जैन दर्शन में कर्म -मीमांसा

– राजीव प्रचंडिया एडवोकेट

उथल-प्रथल, ऊहा-पोह, आपाधापी, उठक-पठक, लूट-पाट, मार-धाड अर्थात हिंसा के विविध आयामों में सम्यक्त वर्तमान जीवन आशा-निराशा, पल्पना-यथार्थता, स्थिरता-चंचलता, धीरता-अधीरता,क्रुरता-करुणा, शोषणता-पोषणता, समता-विषमता, स्वाधीनता-पराधीनता, जडता-चिन्मयता, कुटीलता-सरलता आदि विभिन्न उलझनों से भुकत्यर्थ आत्मिक शान्ति आनन्द-विलास की खोज में सतत संघर्ष रत है, अस्तु त्रस्त्र संत्रस्त्र है। ऐसी दीन-हीन स्थिति में अर्थात मानसिक अशान्तिजन्य अवस्था में ''कर्म-सिद्धान्त'' जीवन के लक्ष्य को स्थिर आलोकित करने में अर्थात सत-चित-आनन्द स्वरुप को उदघाटित करने में निमित्त नैमितिक का कार्य करते है। देशी विदेशी दर्शनों वेदान्त, गीता, जैन, बौद्ध न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य पोग, अद्वेय विशिष्टा द्वेत, द्वेताद्वेत द्वेत, शुद्धाद्वेत, इस्लाम काइस्ट कन्फ्यूशस में कर्म विवेचना अपने - अपने ढंग से निरुपित है वास्तव में ये कर्म सिद्धान्त लौकिक-अलौकिक जीवन में प्रवलशक्ति स्फुर्ति का संचार करते हैं। जीवन में इनकी उपयोगिता उपादेयता निश्चयही असन्दिग्ध है।

''क्रियते ततः कर्म दुकंञ-करणे'' धातु से निष्पन्न ''कर्म'' शब्द कर्मकारक किया तथा जीव के साथ बंधने वाले विशेष जाति के पुदगल स्कन्ध, आदि अनेक रुपों में प्रयुक्त है। इसका सामान्य अर्थ ''काम'' से लिया जाता है किन्तु व्याकरण के क्षेत्र में यह कर्मकारक के रुप में गृहीत है। दर्शनिक क्षेत्र में भारतीय जैनेतर दर्शन, मन, वचन, व कर्म से किए गये 'काम' को 'कर्म' की संज्ञा देते है। अर्थात क्रिया और तज्जन्य संस्कार कर्म कहलाते हैं किन्तु जैन दर्शन में कर्म अपने विशिष्ट अर्थ में प्रतिष्ठित है। यहाँ जीव के साथ जुडनेवाला पुद्‌गल स्कन्ध 'कर्म' कहलाता है अर्थात जीव से सम्बद्ध मूर्तिक द्रव्य और निमित्त से होने वाले राग द्वेष रुप भाव कर्म कहे जाते है।

भारतीय दर्शन में प्रतिष्ठित कर्म 'सिद्धान्त' जिसमें शरीर रचना से लेकर आत्मा के अस्तित्त्व तक का तथा बन्धन से मुक्ति तक की महायात्रा का विशद चिन्तन-विश्लेषण अंकित है संसारी जीव को जो आत्मस्वरुप की दृष्टि से समान होते हुए भी विविध अवस्थाओं-स्थितियों, विभिन्न गतियों-योनियों में तथा जीव के पुनर्जन्म सम्बन्धी घटनाओं का अर्थात जीव को विभिन्न सांसारिक परिणतियों अवस्थाओं में होना मानता है। वास्तव में कर्मो से लिप्त यह जीव अनादिकालसे, अनेक भवो में तथा विभिन्न रुपों, कभी धनिक तो कभी निर्धन, कभी पंडित तो कभी ज्ञानवंत, कभी रुपवान तो कभी कुरुपी, कभी सबल तो कभी निर्बल, कभी रोगी तो कभी निरोगी, कभी भाग्यवान तो कभी दुर्भाग्यशाली, आदि में चारों गतियों, देव, मुनष्य, तिर्थञ्य, नरक तथा चौरासी लाख योनियों में सुख दुःख की अनुभूति करता हुआ जन्म-मरण के चक्र में फँसा हुआ है। इस प्रकार कर्म-शृंखला जन्म-जन्मान्तर से सम्बद्ध और अत्यन्त मजबूत मानी गई है जिसमें जीव अपने कृत कर्मो को भोगता हुआ नवीन कर्मो का उपार्जन करता है। मानवजीवन पर कर्मों का प्रभाव अत्यन्त व्यापक है। यदि किसी व्यक्ति को यह मालूम पडे कि मुझको जो कुछ भोगना पडता है वह मेरे पूर्व जन्म कृत कार्यों का ही फल है तो वह पुराने अथवा पूर्व भव में किए हुए कर्मों को सहज शान्त व समभावी/समदर्शी होकर क्षय करने का पुरुषार्थ करेगा जिससे नवीन कर्मो का आगमन रुकेगा और उसके अन्दर सहनशक्ति/सहिष्णुता की भावना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उद्भूत होगी।

यह निश्चित है मनुष्य जब कोई कार्य करता है तो उसके आस-पास के वातावरण में क्षोभ उत्पन्न होता है जिसके कारण उसके चारों और उपस्थित कर्म शक्ति युक्त सूक्ष्म पुद्गल परमाणु अर्थात कर्म आत्मा की और आकर्षित होते है इन परमाणुओं का आत्मा की और आकर्षित होना आष्रव, आत्मा के साथ क्षेत्रावगाह (एक ही स्थान में रहने वाला) सम्बन्ध 'बन्ध' इन परमाणुओं को आत्मा की ओर आकृष्ट न होने देने की प्रक्रिया 'सवंर' तथा इन परमाणुओं से छुटने का विधि-विधान 'निर्जरा' और आत्मा का समस्त कर्म परमाणुओं से मुक्त होना वस्तुत: 'मोक्ष' कहलाता है। वास्तव में जीव के शरीर की संरचना भी तभी तक रहती है जबतक आत्मा कर्मों से जकडी हुई है। कर्म-बद्ध आत्मा ही कर्म पुद्गल से सम्बन्ध स्थापित करती है और इस प्रकार ये कर्म पुद्गल अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ, वर्तमान या पूर्वजन्म के हों, जीव के साथ सदा विद्यमान रहते है और परिपक्व होने पर उदित होते है। नि: सन्देह संसारी जीव के साथ रहने वाले ये कर्म उसके मन में उठने वाले विचारों भावों संकल्पो और प्रवृत्तियों को शुद्ध पवित्र रखने की प्रेरणा प्रदान करते है तथा जीव में हेय-उपादेय, हित अहित, सुख दु:ख, अर्थ अनर्थ आदि का भेद विज्ञान भी कराते है।

लौकिक-अलौकिक कोई भी कार्य करते समय यदि जीव की भावना शुद्ध तथा राग-द्वेष अर्थात क्रोध, मान,माया लोभ, कषायों से निर्लिप्त, वीतरागी है तो उस समय शारीरिक कार्य करते हुए भी किसी भी प्रकार का कर्म वन्ध उस जीव में नही होता है। प्राय: यह देखा-सुना जाता है कि विभिन्न व्यक्तीयो द्वारा एक ही प्रकार के कार्य करने पर भी उनमे भिन्न भिन्न प्रकार का कर्म बन्ध होता है इसका मूल कारण है कि एक ही प्रकार के कार्य करते समय इन व्यक्तीयों के भाव सर्वथा भिन्न प्रकार के होते है। फलस्वरुप उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार का कर्म-बन्ध होता है । जैन दर्शन में तो कर्म की दस अवस्थाएँ निरुपित है यथा-वंध, उत्कर्ष, अपरर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, सक्रंमण, उपराम, निष्पति और नि:काचना। कर्म की इन दस अवस्थाओं में प्रारम्भिक अवस्था 'बन्ध' की मानी गई है, क्यों कि बीना उस अवस्था के अन्यशेष अवस्थाएँ नहीं हो सकती है। प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के आधार पर बंध को चार भागों में बाँटा जा सकता है। जो बन्ध कर्मों की प्रकृतिस्वभाव को स्थिर करता है प्रकृति बन्ध, जो कर्म फल की अवधि के निश्चित करे "स्थिति बन्ध" जो कर्म फल की तीव्र या मन्द शक्ति की निश्चितता करे "अनुभाग बन्ध" तथा जो कर्मों की संख्या शक्ति को प्रकट करे "प्रदेश बन्ध" कहलाता है। स्थिति और अनुभाग के बढने को उत्कर्षण, स्थिति और अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहा जाता है। कर्म के बंध होने पर और उनके फलोदय होने के बीच कर्म आत्म में विद्यमान रहते है जिसे "सत्ता" कहा जाता है तथा कर्म के फल देने को उदय तथा नियतकाल के पहले कर्म के फल देने को उदीरणा कहते है। यह उदय दो प्रकार का होता है - एक फलोदय और दूसरा प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है तो वह फलोदय तथा जब कर्म बिना फल दिऐ ही नष्ट हो जाता है तो ऊसे प्रदेशोदय कहा जाता है। एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्म में रुपान्तरित हो जाना संक्रमण तथा कर्म का उदय में आ सकने के अयोग्य हो जाना 'उपराम' अवस्था है। उपराम मोहनीय कर्म कि प्रकृतियों में ही होता है। कर्मो का संक्रमण और उदय न हो सकना निष्पति तथा उसमें उत्कर्षण, अपकर्षण संक्रमण और उदीरणा

 मानव जब अत्यंत प्रसन्न होता है तब उसकी अंतरात्मा भी गाती रहती हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का न होना नि:काचना कहलाता है। कर्म भी इन दस अवस्थाओं का सम्यक् ज्ञान कर लेने के उपरान्त यह सहज में कहा जा सकता है कि ये कर्म, जीव के भाग्य-विधाता है। वास्तव में कर्मबंध व उदय से मिलने वाला फल ही भाग्य कहलाता है। उदीरणा संक्रमण उत्कर्षण, और अपकर्षण द्वारा किए हुए कर्म परिवर्तित तथा नष्ट किए जा सकते है। इस प्रकार इन कर्म सिद्धान्तों के द्वारा यह सत्य उद्घाटित होता है कि प्रत्येक जीव अपनी स्थिति का सृष्टी अपने भाग्य का विधाता स्वंय ही है। स्वय ही बन्धन एवं मोक्ष का कर्ता है। इससे जीव में पुरुषार्थ का सही-सही उपयोग करने की क्षमता प्रकट होती है सुप्तचेतना जागृत विकसित होती है।

कर्म संरचना के विज्ञान को समझने के लिए जैन दर्शन में कर्म को मूलत: दो भागों में विभाजित किया गया है। एक द्रव्य कर्म तथा दूसरा भावकर्म। कामणि जातिका पुदगल अर्थात जड तत्त्व विशेष जो कि आत्मा के साथ मिलकर कर्म के रुप में परिवर्तित होता है, द्रव्य कर्म कहलाता है जब कि राग द्वेषात्मक परिणाम को भाव कर्म कहते है। किन्तु घात-आघात के आधार पर कार्य दो भागों मे विभक्त हैं। एक तो वे कर्म जो आत्मा के वास्तविक स्वरुप का घात करते है, घाति कर्म कहलाते है जिसके अन्तर्गत ज्ञानवरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय कर्म आते है तथा दूसरे वे कर्म जिसके द्वारा आत्मा के वास्तकि स्वरुप के आधात की अपेक्षा जीव की विभिन्न योनियों अवस्थाऐं तथा परिस्थितियाँ निर्धारित हुआ करती है अघाति कर्म कहलाते है इनमे नाम, गोत्र आयु और वेदनीप कर्म समाविष्ट है।

ज्ञानावरणीय कर्म

कामणि वर्गणा कर्म परमाणुओं का वह समूह जिससे आत्मा का ज्ञानगुण प्रछन्न रहता है, ज्ञानावरणीय कर्म कहलता है। इस कर्म के प्रभाव में आत्मा के अन्दर व्याप्त ज्ञान राशि क्षीर्ण होती जाती है। फलस्वरुप जीव रुढि क्रिया काण्डों में ही अथवा सम्पूर्ण जीवन नष्ट करता है। इस कर्म के क्षप के लिए सतत स्वध्याय करना जैनागम में निर्दिष्ट है।

दर्शनावरणीय कर्म

कर्म शक्ति पुक्त परमाणुओं का वह समूह जिसके द्वारा आत्मा का अनन्त दर्शन स्वरुप अप्रकट रहता है, दर्शनावरवीय कर्म कहलाता है। इस कर्म के द्वारा आत्मा अपने सचे स्वरुप को पहिचानने में सर्वथा असमर्थ रहता है। फलस्वरुप वह मिथ्यात्व का आश्रय लेता है।

मोहनीय कर्म

इस कर्म के अन्तर्गत वे कामणिवर्गणाएँ आती हैं जिसके द्वारा जीव मे मोह उत्पन्न होता है। पद कर्म आत्मा के शान्ति सुख आनन्द स्वभाव को विकृत करता है। मोह के वशीभूत जीव स्व-पर का भेद विज्ञान भूल जाता है समाज में व्याप्त संघर्ष इसी के कारण है।

अन्तराय कर्म!

आत्मा के व्याप्त ज्ञान-दर्शन-आनन्द स्वरुप के अतिरिक्त अन्य सामर्थ्य-शक्ति को प्रकट करने में जो कर्म-परमाणु बाधा उत्पन्न करते है वे सभी अन्तराय कर्म के अन्तर्गत आते है। इस कर्म के कारण ही आत्मा में व्याप्त अनन्त शक्ति का न्हास होने लगता है। आत्म-विश्वास की भावना संकल्प शक्ति तथा साहस-वीरता आदि मानवीय गुण प्राय प्रच्छंन्न रहते है।

नामकर्म

इस कर्म के द्वारा जीव एक भव से दूसरे भव में जन्म लेता है तथा उसके शरीरादि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निर्माण भी इसके द्वारा हआ करता है।

गौत्र कर्म!

कर्म परमाणुओं का वह समूह जिनके द्वारा यह निर्धारित होता है कि जीव किस गोत्र, कुटुम्ब वंश, कुल जाति तथा देश आदिमें जन्म ले गोत्र कर्म कहलाता है। ये कर्म परमाणु जीव में अपने जन्म की स्थिति के प्रति मान स्वाभिमान तथा उँच हीन भाव आदि का बोध कराते है।

आयुकर्म:-

इस कर्म के द्वारा जीव की आयु निश्चित हुआ करती है। स्वर्ग-मनुष्य-तिर्थञ्च नरक गति में कौन सी गति जीव को प्राप्त हो यह इसी कर्म पर निर्भर करता है।

वेदनीय कर्म

इस कर्म के द्वारा जीव को सुख दुःख की वेदना का अनुभव हुआ करता है।

उपरोक्त कर्मो के भेद प्रभेदो से यह स्पष्ट है कि घाति-अघाति कर्म आत्मा के स्वभाव को आच्छादित कर जीव में ज्ञान, दर्शन व सामर्थ्य शक्ती को क्षीर्ण करते है तथा ये कर्म जीव पर भिन्न-भिन्न प्रकार से अपना प्रभाव डालते है जिसके फलस्वरुप जीव सुख-दुःख के घेरे में घिरता हुआ स्वतन्त्रता के मार्ग से च्युत होकर पराधीनता का मार्ग अपना लेता है।

अर्पकित अष्ट कर्मो के अतिरिक्त 'नो कर्म' का भी उल्लेख जैनागम में मिलता है। कर्म के उदय से होने वाला वह औदारिक, शरीरादि रुप पुद्गल परमाणु जो आत्मा के सुख-दुःख में सहायक होता है वस्तुत: 'नो कर्म' कहलाता है। ये दो प्रकार के होते है एक 'बद्ध नो कर्म' और दुसरा 'अबद्ध नो कर्म'। शरीर आत्मा में बँधा होने के कारण बद्ध नो कर्म है। आत्मा का एक शरीर को छोडते समय और दूसरे शरीर में प्रवेश करते समय मध्य के समय में भी जिसे विग्रह-गति कहा जाता है, तैजस ओर रामणि शरीर आत्मा के साथ उपस्थित रहते हैं। अस्तु शरीर संसारी आत्मा के साथ प्रत्येक क्षण बद्ध है। अबद्ध नो कर्म वे कर्म है जो शरीर की तरह प्रत्येक समय आत्मा के साथ सम्यक्त नहीं रहते। उनमें साथ रहने का कोई भी निश्चय नहीं होता। उदाहरणार्थ धन, मकान, परिवार, आदि का साथ-साथ रहना संदिग्ध ही है। ये नो कर्म भी संसारी जीव पर अन्य कर्मों की भाँति अपना पभाव डाला करते है।

संसारी प्राणी कर्मों के स्वरुप-शक्ति की महिमा से जब परिचित होता है तो निश्चय ही वह इन कर्म-झमेलों से मुक्तिपर्य अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध अर्थात प्रशस्त्र शुभ की ओर अपना उपयोग लगाता है। वास्तव में कर्म सिद्धान्तों के द्वारा संसारी जीव में वीतराग-वितानता की प्राप्ति के शुभभाव जाग्रत होते है। यह वीतरागता सम्यक दर्शन-ज्ञान चारित्र रुपी रत्नलय थी समन्वित साधनासे उपलब्ध होती है। वस्तुत श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र का मिलाजुला पथ जीव को मुक्ति या सिद्धि तक ले जाता है। क्यों कि ज्ञान से भावों (पदार्थो का सम्यक बोध), दर्शन से श्रद्धा तथा चारित्र से कर्मों का निरोध होता है। जब जीव सम्यक दर्शन-ज्ञान चारित्र से युक्त होता है तब आश्रव से रहित होता है जिसके कारण सर्वप्रथम नवीन कर्म कटते-छुटते है फिर पूर्व बद्ध संचित कर्म क्षय होने लगते है। कालान्तर में मोहनीय कर्म सम्पूर्ण रुप से नष्ट हो जाते है तदनन्तर अन्तराय, ज्ञानावरणीय, और दर्शनावरणीय तीन कर्म भी एक साथ पूर्व रुपे नष्ट हो जाते है इसके उपरान्त शेष चार अधाति कर्म भी नष्ट हो जाते है। इस

 उस भूमि को नमन करो जिस स्थान पर गर्व का खंडन हुआ हो, ज्ञान की ज्योति प्रगटी हो, वह स्थल ही तो सच्चा तीर्थ है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार समस्त कर्मों का क्षय पर जीव निर्वाण मोक्ष को प्राप्त होता है।

कर्म फल के विषय में जैनदर्शन का दृष्टिकोण बडा व्यापक है। इसके अनुसार प्रत्येक प्राणी अपने ही कृत कर्मों से कष्ट पाता है। आत्मा स्वयं अपने हि कर्मो की उदीरणा करता है स्वयं अपने द्वारा ही उनकी गर्हा-आलोचना करता है और अपने कर्मों के द्वारा कर्मों का सकंर-प्रास्तव का विरोध भी करता है यह निश्चित है कि जैसा व्यक्ति कर्म करता है उसे वैसा ही फल भोगता पडता है। ऐसा कदापी नही होता कि कर्म कोई करे और उसका फल अन्य कोई भोगे। कर्म-फल प्रदाता कोई अन्य विशेष चेतन व्यक्ति अथवा ईश्वर नहीं है, अपितु प्राणी अपने अपने कर्मानुसार स्वयं कर्ता और उसका भोक्ता है इसलिए समस्त आत्माएँ समान तथा अपने आप में स्वतन्त्र तथा महत्वपूर्ण है। वे रिती अखण्ड सत्ता का 'अंश रुप नहीं हैं। निश्चय ही ये कर्म-सिद्धांत व्यक्ती में स्वतन्त्रता की भावना जागृत करते है। स्वतन्त्रता से जीव में मौलिकता, स्वाभिमान आदि सद्गुण मंडित रहते है। स्वतन्त्रता के द्रमाही जीवन मिथ्यात्व काषायिक भावनाओं अर्थात क्रोधादि मानसिक आवेगों तथा अविरति अर्थात हिंसा, झूठ, प्रमाद आदि मनोविकारों से मुक्त होता हुआ आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर रहता है अर्थात् भोग से हटकर योग की दिशा में प्रविष्ट होता है?

उपर्यंकित विवेचना से यह स्पष्ट है कि विश्व की समस्त घटनाएँ-दुर्घटनाएँ, जगत में व्याप्त अनेक विषयताएँ विचित्रताएँ कर्म जन्य है। जीवन में दूषण-प्रदूषण अर्थात अपराधिक दुष्प्रवृतियाँ कर्म-विपाक के अधीन हैं। इसलिए एक अध्यात्मयोगी कर्म के इस भयंकर दल-दल में फँसने की अपेक्षा कर्म-मुक्ति की साधना अर्थात मोक्ष मार्ग की ओर सदा प्रवृत्त रहता है। वह सबसे पहले उन दरवाजों को टटोलता है जहाँ से कर्मो का आगमन होता है क्योंकि उनके जाने बिना कर्म द्वार बन्द नही किए जासकते है। ये कर्म द्वार है

१. योग
२. मिथ्यादर्शन
३. अविरति
४. प्रमाद
५. कषाय

कर्म द्वार बन्द हो इसलिए साधक अपने भावों का सदा शुद्ध रखने का प्रयत्न करता है जिसके लिए वह हर क्षण निम्म पाँच बातो का चिन्तन-अनुचिंतन करता है

१. गुत्री
२. सुमिति
३. धर्म
४. द्वादश अनुप्रेक्षाएँ
५. परिषह

१.गुत्री :-

इसमें मन, वचन काय की पवृति को बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बनाना होता है। साधक को अपनी साधनामें सदा लीन रहना होता है अर्थात मन, वचन व काय प्रवृत्ति का निरोध करके मात्र ज्ञाता दृष्टाभाव से निश्चय समाधि धरना होता है। यह गुत्री तीन प्रकार की होती है पहली कायगुत्री दूसरी वचनगुत्री और तीसरी मनोगुप्ती। राग द्वेष मन का परावृत्र होना,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मनोगुप्ति समस्त असत्य भीषणादि का परिहार अर्थात, मौनधारणा वचन गुप्ति औदारिकादि शरीर की क्रियाओ से निवृति काय गुप्ति कहलाती है इन गुप्तियों के बल से ही संसारिक कारणों से आत्मा का गोपन होता है।

२-समिति जीवन की समस्त कियाओं को विवेक पूर्वक सम्यक प्रकार से पवृत्ति करते हुए जीवों की रक्षा करना समिति कहलाती है अर्थात समस्त रागादि भावों के त्याग के द्वारा आत्मा में लीन होना आत्मा का चिन्तन करना, तन्मय होना आदि रुप से जो गमन अर्थात परिषमन होना समिति कहलाता है। समिति का व्यवहार सयंम शुद्धि अर्थात मन की प्रशस्त्र एकाग्रता का कारण बनता है, जो व्यक्ति में जागरण लाता है जिसके अभाव में कोई भी जीव मोक्ष मार्ग में प्रवृत नही होता है। जैनागम में समिति के पाँच भेद निरुपित है।

१ - ईर्या समिति
२ - भाषा समिति
३ - एषणा समिति
४ - आदान - निक्षेपण समिति
५ - प्रतिष्ठापन्न समिति।

ईर्या समिति में जीवों की रक्षार्थ सावधानी पूर्वक चलना-फिरना भाषा समिति में हित-मित-मधुर और सत्य से अनुप्राणित भाषा का बोलना, एषणा समिति में निर्दोष एवं शुद्ध आहार ग्रहण करना, आदान निक्षेपण समिति में वस्तुओं को सावधानी पूर्वक उठाना रखना, प्रतिष्ठापना समिति में मूल-भूत को ऐसे स्थान पर जहाँ जीवों का घात न हो, विसर्जित करना होता है, इनके परिपालन से असंयम रूप-परिणामों के निमित्त से जो कर्मो का आद्रव होता है, उसका संवर होता है।

३ - धर्म—

व्यक्ति और समष्टि की शक्ति के लिए धर्मजीवन का आवश्यक अंग है। व्यक्ति के भीतर अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं किन्तु वे सबकी सब सुप्त-प्रसुप्त हैं, उन्हें यदि जगाना है, प्रकट करना है तो हमे धर्म की शरण में जाना ही पडेगा। आध्यात्मिक उन्नतिके लिए, सुख-शान्ति के लिए तथा बार-बार जन्म - मरण से मुक्त्यिर्थ धर्म ही एक मात्र साधन और उपाय है जिसे क्षमा मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, तप, त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य रूपमें व्यक्त किया जाता है। वास्तव में धर्म का परम एवं चरम लक्ष्य मोक्ष है। धर्म ही नवीन कर्मो के बन्धनों को रोक कर पूर्वबद्ध कर्मो की निर्जरा में प्रमुख कारण होता है। इस लिए वह मोक्ष का साक्षात कारण/साधन/निमित्त बनता है। यह व्यक्ति को भोग से योग, संसार से मोक्ष की ओर ले जाने में प्रेरणास्फूर्ति प्रदान करता हैं।

४ - द्वादश-अनुप्रेक्षाएँ

साधना में मन को साधा जाता है। उसे संसार की क्षणभगुंरता का बोध कराया जाता है। रंग-बिरंगे आकर्षणों से पूर्णत: विरक्ति हेतु जैनागम में अनुप्रेक्षाओं का विधान बताया गया है जिनके बार-बार चिन्तवनसे कषाप-कलापों में लीन चित्त-वृत्तियाँ वीतरागता की ओर प्रेरित होती है। वास्तव में इन भावनाओं के आनेसे व्यक्ति शरीर व भोगोंसे निर्विण्ण होकर साम्यभाव में स्थिति पा सकता है। ये अनुप्रेक्षाएँ बारह प्रकार की होती हैं - अनित्य, अशरव, संसार, एकत्व, अन्यत्व, आशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मभावना।

अनित्य भावना में संसार की प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है, ऐसा विचार, अशरण भावना में

 सत्य कभी कडवा नहीं होता मात्र जो लोग सत्य के आराधक नही होते वे ही सत्य से डरकर ऐसा कहते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कष्ट-मरण में तथा आपत्तियों - विपत्तियों में अपनी आत्मा के अतिरिक्त कोई भी रक्षा नहीं करता, ऐसा विचार, संसार-भावना में यह संसार यहाँ दुःखों का भण्डार है, ऐसा चित्तवन, एकत्व भावना में जीव संसार में अकेला आया है, ऐसा श्रद्धान, अन्यत्व भावना में चेतन - अचेतन समस्त पदार्थ अपने से अलग हैं, ऐसा भाव, अशुचि भावना में यह शरीर मल-मूत्र से वेष्ठित हैं, इसमें मोह करना निस्सार है, ऐसा भाव, समस्त भावना में कर्मोका आत्म-प्रदेशसे किस प्रकारसे बंधना होता है, ऐसा चित्तवन, संवर-भावनामें कर्म और उसकी बन्ध-प्रक्रिया को कैसे रोका जाए ऐसा भाव, निर्जरा भावना में बंधे हुए कर्मोकी निर्जरा। छुटकारा कैसे हो, ऐसा विचार, लोक भावना में यह लोक, आकाश में किस प्रकारसे ठहरा है? स्वर्ग मध्य और अधोलोक कहाँ पर अवस्थित हैं, ऐसा विचार क्रोधि दुर्लभ-भावना में सम्यगृदर्शनादि रूप रत्नत्रय की उपलब्धि कितनी कठिन है, उसे कैसे प्राप्त किया जाए, ऐसा भाव, तथा धर्म-भावनामें धर्म क्या है? ऐसा चिन्तवन धार्मिक प्राणियों द्वारा बार-बार किया जाता है।

५ - परीषह

दूसरों के द्वारा दिए गए कष्ट अर्थात् उपसर्ग को साम्यभाव से सहज करना परीषह कहलाता है। सहिष्णुता कषायों या अन्य मजबूरी के साथ नही अपितु साम्यभावसे होनी चाहिए। परीषह से नवीन कर्म-कषाय आत्मा से बँधते नहीं है। इसमें तो जीवन विराट और समग्र बनता है। क्षुधा, तृष्णा, शीत, उष्ण आदि बाईस प्रकार के परीषदों का उल्लेख जैनागम में वर्णित है। एक कुशल साधक इन बाधाओंसे कभी विचलित नहीं होता और प्रशस्त मार्ग पर निरन्तर बढ़ता ही जाता है।

इस प्रकार कर्मास्रव का निरोध मन, वचन व काय के अप्रशात्त व्यापार को रोकने से, विवेक पूर्वक प्रवत्ति करनेसे, क्षमादि धर्मोका आचरण करनेसे, अन्तःकरण में विरक्ति जगानेसे कष्ट सहिष्णुता और सम्यक चारित्र का अनुष्ठान करने से होता है। यह निश्चित है जीवनकी वे समस्त क्रियाएँ जिसकि पृष्ठभूमि में अविवेक, प्रमाद काम करता है, आस्रव को जन्म देती हैं, तथा विवेक -जागरण के साथ की जानेवाली क्रियाएँ धर्म और संवर का प्रादुर्भाव करती हैं।

कर्म-मुक्तिकी साधनामें पहला सो पान संवर है। इसमें नवीन कर्मोंको रोका जाता है किन्तु जो कर्म पहलेसे ही आ चुके हों उनको क्षय करना भी अत्यन्त आवश्यक होता है। कर्म-क्षय के लिए जो साधना की जाती है उसे आगम में तप कहा गया है। इसके दो भेद किए गए हैं - एक बाह्य तप जिसके अन्तर्गत अनशन/उपवास अवमौदर्य/उनोदर, रस-परित्याग, भिक्षाचरी/वृत्ति परिसंख्यान, परिसंलीनता/विविक्त शय्यासन और काय-क्लेश/तथा दूसरा आभ्यन्तर तप जिसमे विनय, वैयावृत्य/सेवा-सुश्रुषा प्रायश्चित स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग/व्युत्सर्ग नामक तप आते हैं। आभ्यन्तर तप की अपेक्षा बाह्य तप व्यवहार में प्रत्यक्ष परिलक्षित है किन्तु कर्म-क्षय और आत्मशोधन के लिए तो दोनों प्रकार के तपोंका विशेष महत्त्व है। वास्तवमें तप के माध्यम से जीव अपने कर्मों का परिणमन कर निर्जरा कर सकता है। इसके द्वारा कर्म-आस्रव समाप्त हो जाता है और अन्ततः सर्व प्रकारके कर्मजाल से जीव सर्वथा मुक्त होकर सिद्धत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् वह सदा अतीन्द्रिय आनन्द का भोक्ता अर्थात् परमात्मास्वरूप को प्राप्त कर विकल्पों से सर्वथा मुक्त होकर केवल ज्ञाता-द्रष्टा भाव में स्थिति पा जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१ - दशवैकालिक सूत्र
२ - उत्तराध्ययन सूत्र
३ - सत्रकृतांग
४ - भगवती आराधना
५ - तत्त्वार्थ सूत्र
६ - राजवार्तिक
७ - ज्ञानार्णव
८ - वारस अणु वेक्खा
९ - जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, शु. जिनेन्द्र वर्णी, चारो भाग।
१० - चिंतन की मनोभूमि, लेखक - उपाध्याय अमरमुनिजी।
११ - जैनदर्शन स्वरूप और विश्लेषण - देवेन्द्र मुनि रामश्री
१२ - धर्म, दर्शन, मनन और मूल्योकंन - देवेन्द्र मुनि रामश्री
१३ - जैन तात्त्विक परम्परा में मोक्षरूप - स्वरूप - राजीव प्रचंडिया एडवोकेट
१४ - कर्म, कर्मबध्ध और कर्म क्षय - राजीव प्रचंडिया, एडवोकेट
१५ - दर्शन और चिन्तन - पं. सुखलालजी
१६ - जैनदर्शन में मुक्ति: स्वरूप और प्रक्रिया - श्री ज्ञानमुनि जी महाराज (जैन भूषण), श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ।

● विश्व कीं प्रत्येक मानवीय क्रिया के साथ मन-व्यवसाय बधा हुआ है। यह मन ही एक ऐसी वस्तु हैं, जिस पर नियंत्रण रखने से भवसागर पार होने की महाशक्ति प्राप्त होती हैं। और अनंतानं भव भ्रमर वाला भोमिया भी बनता हैं। मानव जब मनोजयी होता हैं तो तब वह स्वच्छ आत्मा-दृष्टि और ज्ञान-दृष्टि उपलब्ध करता हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org